

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रतिपादित राजनीति और कूटनीति: एक विश्लेषणात्मक साहित्यिक अनुशीलन

वीना रानी, सहायक प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, हिसार, हरियाणा

सार (Abstract)

कौटिल्य का अर्थशास्त्र भारतीय राजशास्त्रीय चिन्तन का सबसे व्यवस्थित ग्रन्थ है। यह शासन, अर्थ, दण्ड, न्याय, गुप्तचर-व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को एक ही शास्त्रीय ढाँचे में प्रस्तुत करता है। यह शोध-पत्र विश्लेषणात्मक साहित्यिक पद्धति से इस ग्रन्थ की राजनीति और कूटनीति का अध्ययन करता है। इसमें मूल संस्कृत पाठ, हिन्दी और अंग्रेजी व्याख्याएँ, आधुनिक विद्वानों के शोध-निष्कर्ष और तुलनात्मक सामग्री का उपयोग हुआ है। पत्र का केन्द्रीय निष्कर्ष यह है कि कौटिल्य की राजनीति "प्रजा-सुख-केन्द्रित यथार्थवाद" है और उनकी कूटनीति "शक्ति-सन्तुलन पर आधारित सोपानबद्ध विवेक"। आलोचकों द्वारा प्रचारित "नैतिकता-विहीन छल-नीति" की छवि ग्रन्थ के सम्पूर्ण पाठ से पुष्ट नहीं होती। अध्ययन में यह भी दिखाया गया है कि मैकियावेली, सुन-त्ज़ू, थ्यूसिडाइडीज़ और आधुनिक यथार्थवादी सिद्धान्तों से तुलना करने पर कौटिल्य की मौलिकता और उनकी सीमाएँ, दोनों स्पष्ट होती हैं।

कुंजी शब्द: कौटिल्य, अर्थशास्त्र, दण्डनीति, सप्तांग सिद्धान्त, मण्डल सिद्धान्त, षाड्गुण्य नीति, गुप्तचर, कूटनीति

1. प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान-परम्परा में "अर्थ" केवल धन का पर्याय नहीं है। वह मनुष्यों की जीविका और उस भूमि का सूचक है जिस पर मनुष्य बसते हैं। अर्थशास्त्र के पन्द्रहवें अधिकरण का आरम्भिक सूत्र यही परिभाषा देता है: "मनुष्याणां वृत्तिरर्थः, मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः; तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति" (15.1.1)। अर्थात् मनुष्यों की वृत्ति (आजीविका) ही अर्थ है, मनुष्यों से युक्त भूमि ही अर्थ है, और उस भूमि को प्राप्त करने तथा पालन करने के उपायों का प्रतिपादक शास्त्र अर्थशास्त्र है [1,2]। इस परिभाषा से ही स्पष्ट है कि ग्रन्थ का प्रयोजन शुद्ध अर्थव्यवस्था तक सीमित नहीं है। वह राज्य-निर्माण, राज्य-रक्षा और राज्य-विस्तार का सम्पूर्ण शास्त्र है।

परम्परा इस ग्रन्थ को कौटिल्य, चाणक्य या विष्णुगुप्त के नाम से जोड़ती है। ग्रन्थ के अन्त में लेखक-परिचय देने वाला श्लोक इन्हीं तीनों में से एक नाम की ओर संकेत करता है [1,3]। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जब आर. शामशास्त्री ने मैसूर के पुस्तकालय से इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि प्रकाश में लाकर 1909 में संस्कृत पाठ और 1915 में अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया, तब भारतीय राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की दिशा ही बदल गई [4]। तब से यह ग्रन्थ इतिहासकारों, राजनीति-वैज्ञानिकों, भाषाविदों और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्येताओं के लिए बहस का केन्द्र रहा है।

इस बहस के दो ध्रुव हैं। एक ओर कौटिल्य को "भारतीय मैकियावेली" कहकर उनकी नीति को निर्मम और अनैतिक बताने वाली दृष्टि है। दूसरी ओर वे विद्वान हैं जो ग्रन्थ में प्रजा-कल्याण, धर्म-मर्यादा और लोकहित की सुदृढ़ नींव देखते हैं। इस पत्र का प्रयास दोनों दृष्टियों को मूल पाठ की कसौटी पर परखना है। यह प्रयास न तो ग्रन्थ का अन्ध-प्रशस्तिगान है और न उसका एकपक्षीय खण्डन।

2. शोध-समस्या, उद्देश्य और पद्धति

शोध-समस्या: अर्थशास्त्र में राजनीति (राज्य-संचालन) और कूटनीति (अन्तर्राज्यीय व्यवहार) एक ही चिन्तन-सूत्र में गुंथी हैं। प्रश्न यह है कि क्या इनका आधार शुद्ध सत्ता-लिप्सा है या इनके पीछे कोई नैतिक-लोकहितकारी तर्क भी है।

उद्देश्य:

1. अर्थशास्त्र के राजनीतिक सिद्धान्तों (सप्तांग राज्य, राजा का स्वरूप, दण्डनीति, प्रशासन) का मूल पाठ के आधार पर विश्लेषण करना।
2. कूटनीतिक सिद्धान्तों (मण्डल, षाड्गुण्य, दूत, उपाय-चतुष्टय, गुप्तचर) का विवेचन करना।
3. पूर्ववर्ती शोधों की समीक्षा करके उनके निष्कर्षों की तुलना करना।
4. पाश्चात्य और पौराणिक तुलनात्मक सामग्री से कौटिल्य की मौलिकता की परख करना।

पद्धति: यह अध्ययन विश्लेषणात्मक साहित्यिक शोध है। इसमें प्राथमिक स्रोत के रूप में मूल संस्कृत पाठ और उसके प्रामाणिक सम्पादन [1] तथा हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद [2,3] प्रयुक्त हैं। द्वितीयक स्रोतों में भारतीय और विदेशी विद्वानों की मोनोग्राफ़ और शोध-लेख हैं। स्रोतों का चयन तीन आधारों पर हुआ: ग्रन्थ की प्रामाणिकता, विद्वत्समाज में स्वीकृति और विश्लेषणात्मक गहराई। तुलनात्मक विश्लेषण में समान अवधारणाओं (राज्य-हित, शक्ति, नैतिकता और युद्ध) को कसौटी बनाया गया है। सभी उद्धरण 2023 से पूर्व प्रकाशित स्रोतों से लिए गए हैं।

3. संबंधित शोध-समीक्षाएँ, उनके परिणाम और विश्लेषण

अर्थशास्त्र पर शोध की परम्परा एक शताब्दी से अधिक पुरानी है। इसे पाँच धाराओं में समझा जा सकता है।

3.1 पाठ-आलोचना और काल-निर्धारण की धारा

आर. पी. कांगले का त्रि-खण्डीय कार्य इस क्षेत्र का आधार-स्तम्भ है। पहले खण्ड में उन्होंने विविध पाण्डुलिपियों की तुलना से संशोधित संस्कृत पाठ दिया, दूसरे में टिप्पणियों सहित अंग्रेजी अनुवाद, और तीसरे में ग्रन्थ का समग्र अध्ययन [1,2,5]। उनका निष्कर्ष है कि ग्रन्थ का मूल कौटिल्य की रचना है और उसकी शैली, विषय-वस्तु तथा तथ्यात्मक सामग्री मौर्यकालीन परिस्थितियों से मेल खाती है।

इस मत का प्रतिपक्ष ट्रॉटमैन के सांख्यिकीय भाषा-विश्लेषण में मिलता है। उन्होंने ग्रन्थ में शैलीगत भिन्नताओं की गणना करके सुझाव दिया कि यह ग्रन्थ कई हाथों और कालों की परत-दर-परत रचना हो सकता है, यद्यपि मूल संरचना प्राचीन है [6]। मैबेट ने ग्रन्थ में प्रयुक्त कुछ शब्दावली और सन्दर्भों (जैसे "चीन" का उल्लेख और कुछ आर्थिक शब्द) के आधार पर इसे ईसा की आरम्भिक शताब्दियों की रचना माना [7]।

परिणाम: विद्वानों में अब तक पूर्ण एकमत नहीं है। फिर भी इतना निर्विवाद है कि ग्रन्थ की मूल चिन्तन-संरचना मौर्यकालीन राजतन्त्रात्मक अनुभव से जुड़ी है, और शास्त्रीय परम्परा इसे चाणक्य से जोड़ती रही है।

विश्लेषण: काल-निर्धारण की यह बहस इस पत्र के लिए इसलिए महत्वपूर्ण है कि यह "कौटिल्य" शब्द को एक व्यक्ति के साथ-साथ एक परम्परा का प्रतिनिधि मानने की गुंजाइश देती है। इस पत्र में विश्लेषण का आधार ग्रन्थ का उपलब्ध पाठ है, लेखक की जीवनी नहीं।

3.2 राजनीतिक यथार्थवाद की धारा

रोजर बोशे ने अपनी पुस्तक में कौटिल्य को "प्रथम महान राजनीतिक यथार्थवादी" कहा है। उनके अनुसार कौटिल्य राजनीति को नैतिक उपदेश से नहीं, बल्कि मानव-स्वभाव, संसाधन और शक्ति के यथार्थ आकलन से समझते हैं [8]। बोशे यह भी मानते हैं कि कौटिल्य का राज्य एक "कल्याणकारी राज्य" है, जो प्रजा की आर्थिक सुरक्षा पर बल देता है।

जॉर्ज मोडेल्स्की ने कौटिल्य के अन्तर्राज्यीय चिन्तन को अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली के सिद्धान्त के रूप में पढ़ा। उनकी दृष्टि में मण्डल-सिद्धान्त प्राचीन हिन्दू जगत की "अन्तर्राज्यीय व्यवस्था" का ऐसा प्रारूप है, जिसमें प्रत्येक राज्य अपने पड़ोसी को सम्भावित प्रतिद्वन्द्वी और उसके पड़ोसी को सम्भावित सहयोगी मानता है [9]।

परिणाम: इस धारा का निष्कर्ष है कि कौटिल्य की कूटनीति एक सुसंगत, लगभग वैज्ञानिक शक्ति-सन्तुलन-प्रणाली है, जिसकी तुलना आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध-सिद्धान्तों से सार्थक है।

विश्लेषण: इस धारा की शक्ति उसकी संरचनात्मक स्पष्टता है। उसकी कमजोरी यह है कि कई बार प्राचीन संस्कृत-अवधारणाओं को आधुनिक पाश्चात्य श्रेणियों (जैसे "रियलिज़्म") में बलपूर्वक बैठाने का खतरा रहता है।

3.3 पाठ-प्रधान और विधि-ऐतिहासिक धारा

पैट्रिक ओलिवेल ने अर्थशास्त्र का नया अंग्रेज़ी अनुवाद और विस्तृत भूमिका प्रस्तुत की। उन्होंने ग्रन्थ को प्राचीन भारत में राजा, शासन और विधि के अध्ययन का प्रमुख स्रोत माना और इसकी रचना-प्रक्रिया पर नया प्रकाश डाला [10]। एल. एन. रंगराजन के संस्करण ने सम्पूर्ण ग्रन्थ को पुनर्विन्यस्त रूप में प्रस्तुत करके व्यापक पाठक-वर्ग तक पहुँचाया [11]।

परिणाम: इन कार्यों से पता चला कि ग्रन्थ केवल कूटनीति का नहीं, बल्कि विधि, न्याय, कर-प्रणाली, खनन, कृषि और नगर-प्रशासन का भी बहुआयामी संग्रह है।

विश्लेषण: इस पाठ-प्रधान धारा का महत्व यह है कि वह हमें "कूटनीति" को ग्रन्थ के शेष भाग से अलग करके नहीं, बल्कि सम्पूर्ण शासन-दर्शन के एक अंग के रूप में देखने को प्रेरित करती है।

3.4 भारतीय राजनीतिक चिन्तन-परम्परा की धारा

के. पी. जायसवाल ने "हिन्दू पॉलिटी" में प्राचीन भारतीय गणराज्यों और राजतन्त्रों का सांविधानिक अध्ययन किया और भारतीय राजनीतिक संस्थाओं को पाश्चात्य प्रभाव से स्वतन्त्र सिद्ध करने का प्रयास किया [12]। ए. एस. अल्तेकर ने "स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एन्शिएंट इंडिया" में राजा, मन्त्रिपरिषद्, न्याय और स्थानीय शासन का सांगोपांग वर्णन किया [13]। आर. एस. शर्मा ने प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों को सामाजिक-आर्थिक संरचना से जोड़कर देखा और यह तर्क दिया कि राजसत्ता का विकास उत्पादन-सम्बन्धों और वर्ण-व्यवस्था से प्रभावित था [14]। यू. एन. घोषाल ने "ए हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन पॉलिटिकल आइडियाज़" में अर्थशास्त्र को भारतीय राजनीतिक विचारों की परम्परा के भीतर रखकर उसकी धर्मशास्त्रीय और अर्थशास्त्रीय धाराओं का अन्तर स्पष्ट किया [15]।

हिन्दी में सत्यकेतु विद्यालंकार का कार्य इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। उन्होंने प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था और राजशास्त्र को सरल हिन्दी में प्रस्तुत करके हिन्दी-पाठक को शास्त्र-परम्परा से जोड़ा [16]। हेर्मन शार्फ़े ने "द स्टेट इन इंडियन ट्रेडिशन" में राज्य की

भारतीय अवधारणा को धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के सन्दर्भ में परखा [17]। पी. वी. काणे के "हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र" में राजधर्म, दण्ड और न्याय का विशद संकलन है, जिससे अर्थशास्त्र की तुलना धर्मशास्त्रीय परम्परा से करना सम्भव होता है [18]।

परिणाम: इस धारा के प्रमुख निष्कर्ष तीन हैं। प्राचीन भारत में राजनीतिक चिन्तन स्वतन्त्र और समृद्ध था। राजा की सत्ता निरंकुश न होकर धर्म और परामर्श से मर्यादित थी। अर्थशास्त्र इस चिन्तन-परम्परा का सर्वाधिक व्यावहारिक और तकनीकी ग्रन्थ है।

विश्लेषण: यहाँ एक मतभेद भी उभरता है। जायसवाल जैसे लेखकों में राष्ट्रीय गौरव की प्रेरणा प्रबल दिखती है, जबकि आर. एस. शर्मा भौतिक-सामाजिक कारकों पर बल देते हैं। दोनों को साथ पढ़ने से एक सन्तुलित समझ बनती है।

3.5 तुलनात्मक और आलोचनात्मक धारा

एन. पी. सिल ने अर्थशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उसकी अवधारणाओं को अन्य प्राचीन परम्पराओं के साथ रखकर देखा [19]। रफीउज्ज ज़मान ने कौटिल्य को भारतीय सामरिक संस्कृति के निर्माता विचारक के रूप में देखा और उनके सिद्धान्तों के आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन पर प्रभाव की जाँच की [20]। बोशे ने अपने दूसरे लेख में युद्ध और कूटनीति के सम्बन्ध पर विशेष ध्यान दिया और तर्क दिया कि कौटिल्य युद्ध को अन्तिम उपाय और कूटनीति को प्राथमिक उपाय मानते हैं [21]।

परिणाम: तुलनात्मक अध्ययनों का साझा निष्कर्ष है कि कौटिल्य में युद्ध से पूर्व अन्य उपायों (साम, दान, भेद) पर बल है, और दीर्घकालीन राज्य-हित उनके चिन्तन की धुरी है।

विश्लेषण: इस धारा की एक सीमा है। पश्चिमी सिद्धान्तों से तुलना करते समय कई बार कौटिल्य का धर्म-सन्दर्भ गौण हो जाता है, जबकि मूल ग्रन्थ में धर्म का उल्लेख बार-बार आता है।

3.6 समीक्षा का समग्र निष्कर्ष

उपर्युक्त पाँचों धाराओं की तुलना से तीन बातें उभरती हैं। पहली, ग्रन्थ की प्रामाणिकता और काल पर मतभेद हैं, पर उसकी मूल चिन्तन-संरचना पर व्यापक स्वीकृति है। दूसरी, यथार्थवादी व्याख्या और धर्म-केन्द्रित व्याख्या के बीच का द्वन्द्व अभी अनसुलझा है। तीसरी, हिन्दी और संस्कृत भाषा में उपलब्ध व्याख्याओं का अंग्रेज़ी-शोध के साथ संवाद अपेक्षाकृत कम हुआ है। इस पत्र का योगदान इसी संवाद-रिक्ति को भरने का प्रयास है।

4. ग्रन्थ-परिचय, ऐतिहासिक सन्दर्भ और स्वरूप

अर्थशास्त्र पन्द्रह अधिकरणों, 150 अध्यायों और लगभग 180 प्रकरणों में विभक्त है। श्लोक-संख्या की परम्परागत गणना छह हजार बताई जाती है [1,5]। अधिकरणों का विषय-विभाजन मोटे तौर पर इस प्रकार है। पहला अधिकरण राजा और शासन के मूल सिद्धान्तों पर है। दूसरा अध्यक्ष-प्रचार अर्थात् प्रशासनिक विभागों पर। तीसरा धर्मस्थीय अर्थात् दीवानी न्याय पर। चौथा कण्टकशोधन अर्थात् फौजदारी न्याय और राज्य-सुरक्षा पर। पाँचवाँ योगवृत्त अर्थात् विशेष परिस्थितियों की नीति पर। छठा राज्य के अंगों पर। सातवें से बारहवें अधिकरण अन्तर्राष्ट्रीय नीति, युद्ध और शक्ति-सन्तुलन पर हैं। तेरहवाँ दुर्ग-विजय के उपायों पर, चौदहवाँ गूढ़ प्रयोगों पर और पन्द्रहवाँ ग्रन्थ की तन्त्रयुक्तियों पर।

ऐतिहासिक सन्दर्भ में मौर्य साम्राज्य का उदय एक विशाल केन्द्रीकृत राज्य की स्थापना की प्रक्रिया थी। रोमिला थापर के अनुसार मौर्य साम्राज्य की प्रशासनिक संरचना, गुप्तचर-तन्त्र और आर्थिक नियन्त्रण के विवरण अर्थशास्त्र की सामग्री से आंशिक साम्य रखते

हैं, यद्यपि इस साम्य की मात्रा पर मतभेद भी है [22]। यही कारण है कि ग्रन्थ को केवल आदर्शवादी सैद्धान्तिक रचना नहीं, बल्कि शासन के अनुभव-जन्य मार्गदर्शक के रूप में भी पढ़ा जाता है।

ग्रन्थ का आरम्भिक विद्या-विभाजन ही उसकी दृष्टि को स्पष्ट कर देता है। कौटिल्य आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति, इन चार विद्याओं को मान्यता देते हैं और आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्क-विवेचन की महिमा इस प्रकार बताते हैं:

*"प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥" (1.2.12) [1,3]*

अर्थात् आन्वीक्षिकी सब विद्याओं का दीपक, सब कर्मों का साधन और सब धर्मों का आश्रय है। यह सूत्र दर्शाता है कि कौटिल्य की राजनीति तर्क और विवेक पर आधारित है, भावुक आदर्शवाद अथवा सत्तालोलुपता पर नहीं।

दण्डनीति को परिभाषित करते हुए कौटिल्य कहते हैं कि वह अलब्ध की प्राप्ति, लब्ध की रक्षा, रक्षित की वृद्धि और वृद्धि-प्राप्त वस्तु के उचित पात्रों में वितरण का साधन है (1.4.3) [1,2]। यह चार-चरणीय अवधारणा राज्य के अर्जन, संरक्षण, संवर्धन और वितरण के पूरे चक्र को समेटती है। इसमें वितरण का समावेश विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, क्योंकि वह राज्य के कल्याणकारी पक्ष की ओर संकेत करता है।

अर्थशास्त्र परम्परा से पूर्णतः पृथक् ग्रन्थ नहीं है। कौटिल्य स्वयं पूर्ववर्ती आचार्यों (बार्हस्पत्य, औशनस, भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर आदि) के मतों का उल्लेख करके उनसे असहमति या सहमति व्यक्त करते हैं [1,2]। कामन्दक का नीतिसार परवर्ती काल में अर्थशास्त्र की परम्परा का काव्यात्मक और संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करता है और कौटिल्य के प्रति आदर व्यक्त करता है [23]। मनुस्मृति में राजधर्म और दण्ड का जो विवेचन है, उसका स्वर अधिक धर्मशास्त्रीय है [24]। महाभारत का शान्तिपर्व राजधर्म का विशाल संकलन है, जिसमें कर, दण्ड, युद्ध और मन्त्रणा के उपदेश भीष्म के मुख से दिए गए हैं [25]। इन तीनों की तुलना में कौटिल्य का लक्षण यह है कि वह अधिक तकनीकी, संस्थागत और विस्तृत है।

5. कौटिल्य की राजनीति: राज्य-संचालन का सिद्धान्त

5.1 सप्तांग राज्य-सिद्धान्त

कौटिल्य राज्य को सात प्रकृतियों का समन्वय मानते हैं: "स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः" (6.1.1) [1,2]। ये सात अंग हैं: स्वामी (राजा), अमात्य (मन्त्री और प्रशासक), जनपद (भूमि और जनसंख्या), दुर्ग (किला और राजधानी), कोश (खजाना), दण्ड (सेना और बल) तथा मित्र (सहयोगी)। यह विभाजन राज्य को एक जीवित संगठन के रूप में देखता है, जिसमें प्रत्येक अंग की अपनी भूमिका है और एक की दुर्बलता सम्पूर्ण राज्य को प्रभावित करती है।

पश्चिमी राज्य-सिद्धान्त की तुलना में यह सूची विशिष्ट है, क्योंकि आधुनिक राज्य की परिभाषा के तीन तत्त्व (जनसंख्या, भूभाग, सम्प्रभुता) यहाँ पहले से मौजूद हैं, और कोश तथा मित्र का समावेश उसे आर्थिक और कूटनीतिक आयाम देता है [12,15]। सामान्यतः विद्वान सप्तांग सिद्धान्त को भारतीय राजनीतिक चिन्तन का सर्वाधिक प्रभावशाली सैद्धान्तिक योगदान मानते हैं, और परवर्ती ग्रन्थों जैसे कामन्दकीय नीतिसार में भी यह सूत्र दोहराया गया है [16,23]।

एक विश्लेषणात्मक बिन्दु यह है कि कौटिल्य इन प्रकृतियों की सापेक्ष श्रेष्ठता पर भी विचार करते हैं और अन्ततः यह निष्कर्ष निकालते हैं कि राज्य की स्थिरता के लिए सभी अंगों का समन्वित सुदृढ़ होना आवश्यक है। इसमें अंग-विशेष की उपेक्षा को खतरनाक माना गया है [1,2]

5.2 राजा का स्वरूप और प्रजा-सुख का सिद्धान्त

कौटिल्य के राजनीतिक दर्शन का सबसे उद्धृत श्लोक यह है:

*"प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥" (1.19.34) [1,2,3]*

अर्थात् प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में उसका हित। राजा को जो अपने को प्रिय लगे उसे हित न मानना चाहिए, बल्कि जो प्रजा को प्रिय हो, वही उसका हित है। यहाँ राजा का व्यक्तिगत सुख राज्य के सामूहिक सुख के अधीन रखा गया है। यह उस निरंकुश राजतन्त्र की छवि से मेल नहीं खाता जो कौटिल्य पर अक्सर आरोपित की जाती है।

इसी प्रकरण का अगला श्लोक राजा के व्रत को रूपायित करता है:

*"राज्ञो हि व्रतमुत्थानं यज्ञः कार्यानुशासनम्।
दक्षिणा वृत्तिसाम्यं तु दीक्षा तस्याभिषेचनम्॥" (1.19.35) [1,2]*

राजा के लिए उद्यम ही व्रत है, प्रशासनिक कार्यों का अनुशासन यज्ञ है, सबके प्रति समान वृत्ति दक्षिणा है और अभिषेक ही दीक्षा। यह श्लोक राज-कर्म को यज्ञ के प्रतीकों में ढालकर उसे नैतिक-धार्मिक कर्तव्य का रूप देता है। यहाँ राजा को सार्वजनिक सेवक के रूप में कल्पित किया गया है।

कौटिल्य राजा के लिए दैनिक कार्यक्रम का भी विस्तृत निर्देश देते हैं। दिन और रात को आठ-आठ भागों में बाँटकर वे बताते हैं कि राजा कब सुरक्षा और आय-व्यय का लेखा देखे, कब पौर-जानपद के कार्य सुने, कब मन्त्रियों से परामर्श करे और कब गुप्तचरों की सूचना ले (1.19) [1,2]। इस कठोर दिनचर्या का अर्थ यह है कि कौटिल्य राजा को विलासी नहीं, कर्मशील शासक के रूप में देखते हैं।

राजा को शासन में सहायकों की आवश्यकता पर कौटिल्य का प्रसिद्ध कथन है:

*"सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात् तेषां च शृणुयान्मतम्॥" (1.7.9) [1,2]*

राज्य-कार्य सहायकों के सहयोग से सम्पन्न होता है, जैसे एक पहिये से गाड़ी नहीं चलती। इसलिए राजा मन्त्री नियुक्त करे और उनका मत सुने। यह मन्त्रि-परिषद की संस्था का प्रबल समर्थन है और सीधे-सीधे "एकाधिकार" के विपरीत जाता है।

5.3 स्वधर्म और सामाजिक व्यवस्था की रक्षा

कौटिल्य राजा का एक मुख्य कर्तव्य यह मानते हैं कि वह वर्णाश्रम की मर्यादा बनाए रखे:

*"तस्मात् स्वधर्म भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्म सन्दधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति॥" (1.3.16) [1,2]*

इसलिए राजा प्राणियों को उनके स्वधर्म से विचलित न होने दे, क्योंकि स्वधर्म का पालन कराने वाला राजा इस लोक और परलोक में सुख पाता है। यहाँ कौटिल्य की राजनीति का धर्म-सापेक्ष पक्ष सामने आता है। आलोचना की दृष्टि से यह प्रसंग वर्ण-व्यवस्था की मान्यता का सूचक भी है, जिसे आधुनिक लोकतान्त्रिक मूल्यों के आलोक में सीमा के रूप में देखा जा सकता है [14]। आर. एस. शर्मा इसे उस सामाजिक संरचना का प्रतिबिम्ब मानते हैं जिसमें राज्य का हित वर्ण-आधारित श्रम-विभाजन को स्थिर रखने में निहित था [14]। यह टिप्पणी कौटिल्य को उनके युग की सीमाओं में समझने का आग्रह करती है।

5.4 दण्ड की अवधारणा

कौटिल्य के अनुसार दण्ड राज्य की धुरी है। वे कहते हैं कि केवल दण्ड ही इस लोक और परलोक की रक्षा करता है, बशर्ते राजा उसे अपराध के अनुसार पुत्र और शत्रु दोनों पर समान रूप से लागू करे (1.4) [1,2]। इस कथन में दो बातें उल्लेखनीय हैं: पहली, दण्ड की आनुपातिकता (यथादोषम्), और दूसरी, दण्ड-प्रयोग में राजा के अपने पुत्र और शत्रु के बीच भेद न करना। कौटिल्य चेतावनी भी देते हैं कि अत्यन्त कठोर दण्ड से प्रजा उद्विग्न होती है और अत्यन्त मृदु दण्ड से तिरस्कृत। इसलिए "यथार्ह दण्ड" ही श्रेष्ठ है [1,2]।

इस चिन्तन में दण्ड को नियन्त्रण का उपकरण मात्र नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवस्था का संरक्षक माना गया है। यह हॉब्स की उस अवधारणा से तुलनीय है जिसमें दण्ड-शक्ति के अभाव में समाज "मत्स्य-न्याय" (बड़ी मछली द्वारा छोटी मछली को खाने की स्थिति) में जा गिरता है। "मत्स्य-न्याय" शब्द स्वयं अर्थशास्त्र में प्रयुक्त है और वह दण्डनीति की आवश्यकता का तर्क है [1,2,12]।

5.5 प्रशासन और अध्यक्ष-प्रणाली

द्वितीय अधिकरण में कौटिल्य अनेक विभागाध्यक्षों (अध्यक्ष) का विवरण देते हैं: कोषाध्यक्ष, खनि-अध्यक्ष, लवणाध्यक्ष, सुवर्णाध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, सीताध्यक्ष (कृषि), गोऽध्यक्ष, नावध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष और अन्य [1,2]। यह ग्रन्थ के सर्वाधिक तकनीकी अंशों में से है, और इससे पता चलता है कि कौटिल्य राज्य के आर्थिक क्रिया-कलापों में सक्रिय हस्तक्षेप को उचित मानते हैं।

कोष और भ्रष्टाचार पर कौटिल्य की अन्तर्दृष्टि उनके इस कथन में मिलती है:

*"यथा ह्यनास्वादयितुं न शक्यं जिह्वातलस्थं मधु वा विषं वा।
अर्थस्तथा ह्यर्थचरेण राज्ञः स्वल्पोऽप्यनास्वादयितुं न शक्यः॥" (2.9.33) [1,2]*

जैसे जीभ पर रखे मधु या विष का स्वाद न लेना असम्भव है, वैसे ही राजकोष का काम करने वाला कर्मचारी थोड़ा-बहुत अर्थ का आस्वादन किए बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकरण में कौटिल्य अनेक प्रकार के अपहरणों (चालीस उपायों) की सूची देते हैं और उनके निवारण के लिए निरन्तर निरीक्षण, लेखा-परीक्षण और स्थानान्तरण की व्यवस्था सुझाते हैं [1,2,11]। यह भ्रष्टाचार को मानव-स्वभाव की स्थायी समस्या मानने की यथार्थवादी दृष्टि है और उसी के अनुरूप संस्थागत जाँच-व्यवस्था की माँग।

5.6 न्याय-व्यवस्था

तृतीय और चतुर्थ अधिकरण में न्याय का विस्तार है। धर्मस्थीय (दीवानी) प्रकरणों में विवाह, दाय, ऋण, निक्षेप, दासकर्म, साझेदारी और सम्पत्ति-विवाद आते हैं। कण्टकशोधन (फौजदारी) में हत्या, चोरी, मिलावट, अग्निकाण्ड, बाढ़ आदि से जुड़े प्रावधान हैं [1,2]।

कौटिल्य विधि के चार आधार बताते हैं: धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन, और यह भी कहते हैं कि इनके विरोध की स्थिति में उत्तरोत्तर प्रबल होता है, अर्थात् राजशासन सबसे ऊपर है [1,2,18]। यह अंश राजा के विधायी अधिकार का सूचक है। साथ ही वहाँ न्याय के निष्पक्ष और प्रक्रिया-सम्मत होने पर बल है। साक्षी, लेख्य और शपथ का विधान तथा न्यायाधीशों (धर्मस्थ) के आचरण के निर्देश इसका प्रमाण हैं।

5.7 गुप्तचर-तन्त्र और आन्तरिक सुरक्षा

राज्य की आन्तरिक निगरानी के लिए कौटिल्य विस्तृत गुप्तचर-संस्थाओं की परिकल्पना करते हैं। संस्था वे गुप्तचर हैं जो एक स्थान पर स्थायी रूप से स्थापित रहते हैं (कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस), जबकि सञ्चार वे हैं जो भ्रमण करते हैं (सत्री, तीक्ष्ण, रसद, भिक्षुकी) [1,2]। इन गुप्तचरों का कार्य राज्य-अधिकारियों की निष्ठा-परीक्षा, विदेशी शत्रुओं की गतिविधियों की सूचना और प्रजा में असन्तोष के स्रोतों का पता लगाना है।

आलोचनात्मक विश्लेषण में इस तन्त्र की दोहरी प्रकृति देखी जा सकती है। एक ओर यह राज्य को अराजकता, विश्वासघात और विदेशी आक्रमण से बचाने का उपकरण है। दूसरी ओर यह निगरानी-राज्य की छवि भी प्रस्तुत करता है, जो नागरिक स्वतन्त्रता के आधुनिक विचार से टकराती है [8,13]। बोशे इसे कौटिल्य के "राज्य के भीतर निरन्तर सतर्कता" के सिद्धान्त का अंग मानते हैं और यह भी कहते हैं कि इसका लक्ष्य राज्य-हित है, न कि केवल राजा का निजी हित [8]।

5.8 कल्याणकारी दायित्व

कौटिल्य का राज्य आर्थिक प्रबन्धन तक सीमित नहीं है। अकाल और आपदा में राजा से अपेक्षा है कि वह कोष और भण्डार से प्रजा की सहायता करे, बीज और भोजन दे, दुर्ग-निर्माण जैसे कार्यों द्वारा रोजगार दे और आवश्यकता पड़ने पर स्वयं भी उपभोग में संयम बरते [1,2]। अनाथ, वृद्ध, रोगी, असहाय स्त्रियों और बालकों के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी राज्य पर डाली गई है। इसी आधार पर बोशे सहित अनेक विद्वान कौटिल्य के राज्य को कल्याणकारी राज्य की प्रारम्भिक कल्पना मानते हैं [8,11]। यह वही बिन्दु है जहाँ "छलपूर्ण राजनीति" का लोकप्रिय चित्र मूल पाठ की कसौटी पर कमजोर पड़ जाता है।

6. कौटिल्य की कूटनीति: अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का सिद्धान्त

6.1 विजिगीषु और मण्डल-सिद्धान्त

कौटिल्य की कूटनीति का केन्द्रीय पात्र "विजिगीषु" है, अर्थात् विजय की इच्छा रखने वाला राजा। छठे अधिकरण में वे इस बात का विवरण देते हैं कि विजिगीषु अपने चारों ओर के राज्यों को किस श्रेणी में रखे। समीपवर्ती राज्य सामान्यतः शत्रु होता है, शत्रु के पार का राज्य मित्र, उसके आगे शत्रु का मित्र और उसके आगे मित्र का मित्र। इस प्रकार एक क्रमबद्ध मण्डल बनता है जिसमें अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र और अरिमित्रमित्र जैसी श्रेणियाँ हैं। इसके पीछे भी राज्य होते हैं जिन्हें पार्ष्णिग्राह, आक्रान्दासार आदि संज्ञाएँ दी गई हैं और मध्यम तथा उदासीन नामक दो तटस्थ शक्तियाँ भी बताई गई हैं [1,2]।

मोडेल्स्की के अनुसार इस मण्डल में एक सुसंगत तर्क है: भौगोलिक निकटता शत्रुता को जन्म देती है, और शत्रु का शत्रु स्वाभाविक सहयोगी बन जाता है [9]। यह तर्क विश्व की अनेक अन्तर्राज्यीय प्रणालियों में देखा गया है, जैसे प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों में, मध्ययुगीन यूरोप में और आधुनिक शीत-युद्ध के गठबन्धनों में [9,21]।

सैद्धान्तिक दृष्टि से मण्डल की श्रेणियाँ स्थायी नहीं हैं। ये सापेक्ष हैं और किसी राज्य की शक्ति, सामर्थ्य और परिस्थितियों के बदलते ही उसकी स्थिति बदल सकती है। इसलिए कौटिल्य विजिगीषु को बार-बार अपने मण्डल का पुनर्मूल्यांकन करने की सलाह देते हैं [1,2]।

6.2 शक्ति की अवधारणा: मन्त्र, प्रभाव और उत्साह

कौटिल्य शक्ति के तीन घटक बताते हैं: मन्त्रशक्ति (परामर्श और बुद्धि की शक्ति), प्रभावशक्ति (कोश और सेना की शक्ति) और उत्साहशक्ति (साहस और पराक्रम की शक्ति) [1,2]। उनका मत है कि इन तीनों में समन्वय होने पर राजा अधिक बलशाली होता है, और जो राजा इन तीनों में श्रेष्ठ होता है वह विजयी होता है। यह त्रिविध शक्ति-अवधारणा आधुनिक "नरम शक्ति" (soft power) और "कठोर शक्ति" (hard power) के भेद की पूर्वपीठिका के रूप में पढ़ी जा सकती है, यद्यपि यह तुलना पूर्ण नहीं है [20,24]।

6.3 षाड्गुण्य नीति

अन्तर्राज्यीय व्यवहार के छः प्रकारों को कौटिल्य इस प्रकार सूत्रबद्ध करते हैं: "सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यम्" (7.1.1) [1,2]। इनका अर्थ है: सन्धि (शान्ति या समझौता), विग्रह (युद्ध या शत्रुता), यान (आक्रमण की तैयारी), आसन (तटस्थ प्रतीक्षा), संश्रय (किसी सबल राज्य का आश्रय) और द्वैधीभाव (एक राज्य से सन्धि तथा दूसरे से विग्रह की दोहरी नीति)।

इन छः उपायों का चयन कौटिल्य राज्य की सापेक्ष शक्ति पर निर्भर करते हैं। सामान्य सिद्धान्त यह है कि जो राजा शत्रु से दुर्बल हो, वह सन्धि या संश्रय का मार्ग अपनाए। जो शत्रु से बलशाली हो, वह विग्रह या यान की ओर बढ़े। जो समान बल का हो, वह आसन की रीति चले। कौटिल्य का सूत्र यह भी कहता है कि शक्ति और सिद्धि के अनुसार नीति-चयन होना चाहिए, और राजा को बढ़ती हुई स्थिति में अपनी वृद्धि के उपाय तथा घटती हुई स्थिति में अपने संरक्षण के उपाय अपनाने चाहिए [1,2]।

इस नीति की बुनियादी मान्यता यह है कि "युद्ध" राज्य की एकमात्र या स्वाभाविक अवस्था नहीं है। वह छः विकल्पों में एक है, और सन्धि को अनेक स्थितियों में बुद्धिमत्तापूर्ण माना गया है। बोशे इसे कौटिल्य की "शान्ति-प्रियता नहीं, बल्कि युद्ध की अनावश्यकता को टालने की व्यावहारिकता" कहते हैं [21]।

6.4 उपाय-चतुष्टय: साम, दान, भेद, दण्ड

राजनीतिक और कूटनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कौटिल्य चार उपाय बताते हैं: साम (सान्त्वना और सन्धि), दान (उपहार या प्रलोभन), भेद (फूट डालना) और दण्ड (बल-प्रयोग) [1,2]। कौटिल्य का सामान्य क्रम यही है कि साम से आरम्भ हो और बल-प्रयोग सबसे अन्त में आए, यद्यपि परिस्थिति के अनुसार क्रम बदल भी सकता है। आधुनिक कूटनीति में वार्ता, आर्थिक प्रोत्साहन, विभाजन-रणनीति और सैन्य-दबाव के क्रम से इसकी समानता ध्यान देने योग्य है [23,24]।

6.5 दूत-व्यवस्था

कौटिल्य दूत को कूटनीति का केन्द्रीय अंग मानते हैं। वे तीन प्रकार के दूत बताते हैं: निसृष्टार्थ (पूर्ण अधिकार-प्राप्त), परिमितार्थ (सीमित अधिकार-प्राप्त) और शासनहर (केवल सन्देशवाहक) [1,2]। दूत के गुण भी निर्धारित हैं: अमात्य-सदृश योग्यता, वाक्पटुता, स्मरण-शक्ति, निर्भयता और प्रतिभा। दूत के कर्तव्यों में केवल सन्देश पहुँचाना नहीं, बल्कि शत्रु राज्य की सैन्य-शक्ति, दुर्ग, कोष, जनमत और असन्तोष का निरीक्षण भी शामिल है [1,2]।

दूत की अवध्यता पर कौटिल्य का कथन ध्यान देने योग्य है। दूत को किसी भी स्थिति में मारना उचित नहीं है, चाहे वह कठोर सन्देश ही क्यों न लाया हो, क्योंकि दूत का वध राजधर्म का उल्लंघन है और इससे स्वयं राजा की कूटनीतिक विश्वसनीयता को क्षति पहुँचती है [1,2,21]। यह आधुनिक राजनयिक उन्मुक्ति के सिद्धान्त का प्राचीन रूप है, जो वियना कन्वेंशन में औपचारिक बना।

6.6 गुप्तचर और वैदेशिक सूचना-तन्त्र

आन्तरिक गुप्तचरों के अतिरिक्त, कौटिल्य विदेशों में छद्मवेशी गुप्तचर स्थापित करने का निर्देश देते हैं। ये शत्रु राज्य की सेना, प्रजा की मनोदशा और अमात्यों की निष्ठा की सूचना भेजते हैं और आवश्यकता पड़ने पर सन्देह और फूट का बीज भी बोते हैं [1,2]। यह राज्य-रक्षा के लिए अनिवार्य होते हुए भी सबसे विवादास्पद अंग है, क्योंकि यहाँ छल, विष-प्रयोग और गुप्त हत्याओं जैसे साधन भी वर्णित हैं (14वाँ अधिकरण)। इन्हीं प्रसंगों के कारण कौटिल्य की छवि मैकियावेली से जोड़ी जाती है [8,26]।

6.7 युद्ध की नैतिकता: धर्मविजय, लोभविजय और असुरविजय

कौटिल्य विजेताओं के तीन प्रकार बताते हैं: धर्मविजयी (जो केवल अधीनता स्वीकार करवाकर सन्तुष्ट रहता है), लोभविजयी (जो धन और भूमि के लोभ से जीतता है) और असुरविजयी (जो शत्रु की सम्पूर्ण सम्पदा, प्रजा और प्राण का हनन करता है)। इनमें से वे धर्मविजय को श्रेष्ठ मानते हैं और असुरविजय को सबसे हेय बताते हैं [1,2]। जीते गए राज्य के प्रति भी वे यह परामर्श देते हैं कि राजा विजित प्रजा के रीति-रिवाज, देवता और धर्म का सम्मान करे, अन्यथा वहाँ स्थायित्व नहीं आएगा [1,2]।

यही वह स्थान है जहाँ कौटिल्य की नैतिकता स्पष्ट होती है। उनके यहाँ नैतिकता निरपेक्ष आदर्श से अधिक स्थायित्व का साधन है। अत्याचारी विजय अस्थिर होती है, इसलिए वह त्याज्य है। यह तर्क शुद्ध कर्तव्यवादी नैतिकता नहीं, परिणामवादी विवेक है। पर यह भी मानना होगा कि कई प्रकरणों में उनका धर्मविजय-सम्बन्धी आग्रह नैतिक मर्यादा-बोध से भी प्रेरित प्रतीत होता है [21,25]।

7. तुलनात्मक अध्ययन

7.1 कौटिल्य और मैकियावेली

कौटिल्य की मैकियावेली से तुलना सर्वाधिक प्रचलित है। मैकियावेली ने "द प्रिन्स" में यह स्थापित किया कि राजा को कभी-कभी नैतिकता के विपरीत आचरण भी करना पड़ सकता है, और उसे लोमड़ी की चतुराई तथा सिंह की शक्ति दोनों का उपयोग आना चाहिए, यह निष्कर्ष उनके सुप्रसिद्ध अंश में मिलता है [27]। मैक्स वेबर ने इसी को "राजनीति के लिए नैतिक अनुत्तरदायित्व" कहकर विश्लेषित किया और कौटिल्य के ग्रन्थ को "वास्तविक रूप से मैकियावेलीय" ग्रन्थ माना, जिसके सामने मैकियावेली की "द प्रिन्स" निरी बाल-कथा लगती है [28]।

फिर भी दोनों में अन्तर हैं। मैकियावेली का चिन्तन एक छोटे इतालवी नगर-राज्य और नए शासक की सत्ता-स्थापना पर केन्द्रित है, जबकि कौटिल्य एक विशाल साम्राज्य की सम्पूर्ण प्रशासनिक और आर्थिक संरचना का विस्तृत शास्त्र प्रस्तुत करते हैं। मैकियावेली की कृति उपदेश-निबन्ध है, जबकि कौटिल्य का ग्रन्थ शास्त्र-संहिता है, जिसमें कर-संग्रह, खान-प्रबन्ध और न्याय-प्रक्रिया के सूक्ष्म विवरण हैं। इसके अतिरिक्त कौटिल्य प्रजा-सुख को राज-सुख से ऊपर रखते हैं (1.19.34), जबकि मैकियावेली का केन्द्र शासक की सत्ता-सुरक्षा है [8,27]।

7.2 कौटिल्य और थ्यूसिडाइडीज़

थ्यूसिडाइडीज़ ने पेलोपोनेशियाई युद्ध के इतिहास में मेलियन-संवाद के माध्यम से यह विचार प्रस्तुत किया कि शक्तिशाली वह करता है जो कर सकता है और दुर्बल वह सहता है जो उसे सहना पड़ता है [29]। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति की केन्द्रीयता का प्रारम्भिक कथन है। कौटिल्य इस यथार्थ को मानते हैं, किन्तु उसे शक्ति के अन्ध-प्रयोग तक सीमित नहीं रखते। वे शक्ति के साथ नीति, सन्धि, कूटनीति और सामयिक धैर्य का समन्वय भी करते हैं। इसलिए उनका शक्ति-चिन्तन अधिक बहु-स्तरीय है।

7.3 कौटिल्य और सुन-त्ज़ू

सुन-त्ज़ू की "आर्ट ऑफ़ वॉर" का प्रसिद्ध सूत्र है कि सौ युद्ध जीतना सर्वोच्च कौशल नहीं, बिना लड़े शत्रु को पराजित करना सर्वोच्च कौशल है [30]। कौटिल्य का उपाय-क्रम (साम, दान, भेद, फिर दण्ड) और कूटनीति द्वारा शत्रु की शक्ति क्षीण करने का प्रयास इसी दृष्टि से मेल खाता है। सुन-त्ज़ू का ग्रन्थ मुख्यतः सैन्य-रणनीति पर केन्द्रित है, जबकि कौटिल्य का क्षेत्र प्रशासन, अर्थ और विधि तक फैला है, इसलिए उन्हें एक ही श्रेणी में रखना अतिसरलीकरण है [20,30]।

7.4 कौटिल्य और आधुनिक यथार्थवाद (मॉर्गेन्थाऊ, वाल्ट्ज़)

हैंस मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार राजनीति मानव-स्वभाव में निहित सत्ता-लिप्सा से संचालित होती है और राज्य का हित शक्ति के रूप में परिभाषित होता है [31]। कौटिल्य का "विजिगीषु" इस विचार से मेल खाता है, क्योंकि उसका स्वाभाविक लक्ष्य विस्तार और शक्ति-संचय है। किन्तु मॉर्गेन्थाऊ मानव-स्वभाव को कारण मानते हैं, जबकि केनेथ वाल्ट्ज़ अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली की अराजक संरचना को [32]। मण्डल-सिद्धान्त संरचनात्मक तर्क से निकट है, क्योंकि वह भौगोलिक और सापेक्ष शक्ति की स्थिति से राज्य के मित्र-शत्रु सम्बन्ध निर्धारित करता है [9]। इस प्रकार कौटिल्य में मानव-स्वभाव-आधारित और संरचना-आधारित, दोनों प्रकार के यथार्थवाद के बीज मिलते हैं।

7.5 कौटिल्य और हेनरी किसिंजर

किसिंजर ने अपनी पुस्तक "डिप्लोमेसी" में शक्ति-सन्तुलन के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का विश्लेषण किया और भारतीय परम्परा में कौटिल्य का उल्लेख करते हुए उनके अर्थशास्त्र को शक्ति और कूटनीति का प्राचीन ग्रन्थ बताया [33]। उनके अनुसार कौटिल्य की नीति यह सूचित करती है कि शक्ति-सन्तुलन और कूटनीतिक लचीलापन केवल यूरोपीय आविष्कार नहीं हैं, बल्कि प्राचीन भारत में भी विकसित थे। इस निष्कर्ष की महत्ता यह है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध-सिद्धान्त के यूरो-केन्द्रित इतिहास को चुनौती देता है।

7.6 कौटिल्य और भारतीय परम्परा के अन्य ग्रन्थ

मनुस्मृति में राजधर्म का अधिक धर्मशास्त्रीय और वर्ण-केन्द्रित रूप है, जबकि अर्थशास्त्र में प्रशासन और दण्ड का अधिक तकनीकी विवरण है [24,18]। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म का उपदेश "आपद्धर्म" के रूप में भी नीति की लचीली व्याख्या करता है, जो कौटिल्य की परिस्थिति-सापेक्ष नीति के निकट है [25]। कामन्दकीय नीतिसार अर्थशास्त्र का काव्यात्मक और अपेक्षाकृत संक्षिप्त संस्करण प्रतीत होता है और मण्डल तथा षाड्गुण्य सिद्धान्तों का अनुवर्तन करता है [23]। इन ग्रन्थों की तुलना से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य की मौलिकता उनके विषय के चुनाव में उतनी नहीं जितनी उसके संस्थागत और प्रक्रियागत विस्तार में है।

8. विभिन्न दृष्टिकोणों का विश्लेषण

8.1 यथार्थवादी दृष्टिकोण

इस दृष्टि के अनुसार कौटिल्य की राजनीति मानव-स्वभाव, भय, लोभ और सत्ता-संघर्ष के यथार्थ पर टिकी है और उसका उद्देश्य राज्य की सुरक्षा और विस्तार है [8,9]। इस मत के पक्ष में सबसे प्रबल प्रमाण मण्डल, षाड्गुण्य और गुप्तचर-तन्त्र के प्रकरण हैं। इसकी सीमा यह है कि प्रजा-सुख, धर्मविजय और न्याय-व्यवस्था जैसे प्रकरणों को यह कम महत्त्व देता है।

8.2 नैतिक-कल्याणकारी दृष्टिकोण

कई भारतीय विद्वान कौटिल्य की व्याख्या धर्म और लोकहित के आधार पर करते हैं और उन्हें एक कल्याणकारी राज्य का प्रवर्तक मानते हैं [12,16]। इसके प्रमाण प्रजा-सुख के श्लोक (1.19.34), आपदा-सहायता और धर्मविजय के प्रावधानों में मिलते हैं। इस मत की सीमा यह है कि यह गुप्त-हत्या, विष-प्रयोग जैसे प्रसंगों की उपेक्षा कर सकता है, जो कौटिल्य के विशुद्ध नैतिक चित्र से मेल नहीं खाते।

8.3 सामाजिक-आर्थिक (मार्क्सवादी-प्रेरित) दृष्टिकोण

आर. एस. शर्मा जैसे इतिहासकार अर्थशास्त्र को उस सामाजिक संरचना का प्रतिफल मानते हैं जिसमें राज्य कृषि-अधिशेष और व्यापार पर नियन्त्रण के माध्यम से अपनी सत्ता कायम रखता है [14]। इस दृष्टि से राजा की कल्याणकारिता भी वर्गीय संरचना की स्थिरता को सुनिश्चित करने का साधन है। यह दृष्टिकोण कौटिल्य की नीतियों के भौतिक आधार को स्पष्ट करता है, पर धर्म और नैतिक विमर्श को गौण बना देता है।

8.4 पाठ-आलोचनात्मक दृष्टिकोण

ट्रॉटमैन और ओलिवेल जैसे विद्वान यह प्रश्न उठाते हैं कि ग्रन्थ में कितना अंश मूल कौटिल्य का है और कितना परवर्ती अन्तर्वेशन है [6,10]। इसके अनुसार ग्रन्थ के कतिपय सिद्धान्तों को एक ही व्यक्ति की वैचारिक एकरूपता के रूप में पढ़ना जोखिम भरा है। इस दृष्टिकोण की देन यह है कि यह ग्रन्थ-निष्कर्षों की अनुमान-मर्यादा का बोध कराता है। पर यदि पाठ के हर खण्ड को सन्देहास्पद ठहराया जाए तो विश्लेषण असम्भव हो जाएगा।

8.5 उत्तर-औपनिवेशिक दृष्टिकोण

अर्थशास्त्र की खोज औपनिवेशिक काल में हुई और शामशास्त्री का अनुवाद भारतीय राष्ट्रवादी चेतना का साधन बना। जायसवाल जैसे विद्वानों ने इसका उपयोग भारतीय राजनीतिक परम्परा की स्वायत्तता सिद्ध करने में किया [4,12]। इस दृष्टि से कौटिल्य की व्याख्या में अतीत-गौरव की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। यह प्रश्न उठाया जाना चाहिए कि क्या कोई व्याख्या ग्रन्थ के पाठ से अधिक व्याख्याकार की समकालीन आवश्यकता का प्रतिबिम्ब तो नहीं।

8.6 इन दृष्टिकोणों का समन्वय

इन सभी दृष्टियों का समेकित मूल्यांकन यह बताता है कि कौटिल्य की राजनीति के तीन स्तर हैं। सैद्धान्तिक स्तर पर वह राज्य को प्रजा-सुख के लिए अस्तित्ववान मानती है। संस्थागत स्तर पर वह विस्तृत नियमन, निरीक्षण और दण्ड की व्यवस्था करती है।

रणनीतिक स्तर पर वह अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-संघर्ष में साम, दान, भेद, दण्ड और षाड़गुण्य का लचीला प्रयोग करती है। किसी एक स्तर के आधार पर सम्पूर्ण ग्रन्थ का चरित्र-निर्धारण अपूर्ण होगा। यही इस पत्र का केन्द्रीय निष्कर्ष है।

9. समकालीन प्रासंगिकता

कौटिल्य की प्रासंगिकता के तीन क्षेत्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

पहला, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध। मण्डल और षाड़गुण्य के सिद्धान्त आज भी क्षेत्रीय शक्ति-सन्तुलन के विश्लेषण में उपयोगी माने जाते हैं। जमान का तर्क है कि भारतीय सामरिक संस्कृति में कौटिल्य की छाप निरन्तर दिखाई देती है, चाहे वह पड़ोसी देशों के प्रति नीति हो अथवा महाशक्तियों के बीच सन्तुलन की रणनीति [20]। पर यह भी सच है कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि, संयुक्त राष्ट्र-व्यवस्था और परमाणु-सन्तुलन जैसे तत्त्व प्राचीन मण्डल-सिद्धान्त में नहीं थे, इसलिए सीधा अनुप्रयोग सावधानी माँगता है [9,32]।

दूसरा, लोक-प्रशासन। भ्रष्टाचार-निवारण, लेखा-परीक्षण, विभागीय उत्तरदायित्व और आपदा-प्रबन्धन से जुड़े कौटिल्य के विचार आधुनिक लोक-प्रशासन के अध्ययन के लिए उपयोगी सन्दर्भ हैं [11,13]। "अनास्वादयितुं न शक्यम्" (2.9.33) वाला श्लोक आज के प्रशासनिक भ्रष्टाचार-विमर्श में प्रायः उद्धृत होता है।

तीसरा, शासन-नैतिकता। "प्रजासुखे सुखं राज्ञः" (1.19.34) का आदर्श आधुनिक लोक-सेवा की भावना से मेल खाता है और शासक के दायित्व-बोध की स्थायी कसौटी है [1,2]।

10. सीमाएँ

इस अध्ययन की कुछ सीमाएँ हैं। पहली, इसमें केवल 2023 से पूर्व के स्रोतों का उपयोग हुआ है, अतः नवीनतम शोध सम्मिलित नहीं है। दूसरी, पाठ-सम्बन्धी विवादों (जैसे लेखकत्व और काल) का पूर्ण समाधान इस पत्र का उद्देश्य नहीं था। तीसरी, अध्ययन मुख्यतः मुद्रित संस्करणों और उनके अनुवादों पर आधारित है, पाण्डुलिपियों के प्रत्यक्ष परीक्षण पर नहीं। चौथी, तुलनात्मक सामग्री सीमित प्रतिनिधि-ग्रन्थों तक ही रखी गई है, इसलिए और विस्तृत तुलना (जैसे चीनी, यूनानी और इस्लामी राजनीतिक-चिन्तन के व्यापक अध्ययन) की सम्भावना शेष है।

11. निष्कर्ष

कौटिल्य का अर्थशास्त्र भारतीय राजनीतिक चिन्तन का ऐसा ग्रन्थ है जो राज्य के सम्पूर्ण जीवन को एक शास्त्र में बाँधता है। इस पत्र के विश्लेषण से चार निष्कर्ष निकलते हैं।

पहला, कौटिल्य की राजनीति की आधारभूमि प्रजा-सुख है। राजा का सुख और हित उसकी प्रजा के सुख और हित से जुड़ा है, और यही राज्य के अस्तित्व का प्रयोजन है (1.19.34)।

दूसरा, उनकी शासन-व्यवस्था सप्तांग सिद्धान्त पर टिकी है और सुव्यवस्थित प्रशासन, कठोर परन्तु आनुपातिक दण्ड, प्रक्रिया-सम्मत न्याय और आपदा-कालीन कल्याण के प्रावधानों से युक्त है।

तीसरा, उनकी कूटनीति मण्डल-सिद्धान्त और षाड्गुण्य नीति के रूप में एक विकसित शक्ति-सन्तुलन-प्रणाली है, जिसमें युद्ध अन्तिम उपायों में है और सन्धि, आसन तथा संश्रय जैसे विकल्प परिस्थिति के अनुसार अपनाए जाते हैं। धर्मविजय को श्रेष्ठ और असुरविजय को त्याज्य मानना उनकी नैतिक सीमा-रेखा है।

चौथा, तुलनात्मक दृष्टि से कौटिल्य मैकियावेली की तरह यथार्थवादी हैं, किन्तु उनका दायरा कहीं अधिक व्यापक, संस्थागत और प्रजा-केन्द्रित है। वे सुन-तज्ज की भाँति बिना युद्ध के विजय के आग्रही हैं, परन्तु उनकी दृष्टि सैन्य-दर्शन से आगे प्रशासन और अर्थ तक फैली है। आधुनिक यथार्थवाद में उनके विचारों के पूर्वरूप मिलते हैं, पर उनका सन्दर्भ धर्म-आधारित राज्य-कल्पना का है।

अन्ततः "अनैतिक छल-नीति" और "आदर्श कल्याण-राज्य" के द्वैत में से किसी एक को चुनना कौटिल्य के साथ न्याय नहीं होगा। उनका राज्य-दर्शन नैतिक लक्ष्य और यथार्थवादी साधनों के तनाव में सन्तुलन खोजता है। भविष्य के शोध के लिए सुझाव यह है कि हिन्दी और संस्कृत टीकाओं का अंग्रेजी-शोध से अधिक सुव्यवस्थित संवाद कराया जाए, और पाण्डुलिपि-परम्परा तथा परवर्ती नीति-ग्रन्थों के साथ अर्थशास्त्र का सूक्ष्म पाठ-तुलनात्मक अध्ययन हो।

सन्दर्भ

1. Kangle RP. The Kautilya Arthashastra. Part 1: A critical edition with a glossary. 2nd ed. Bombay: University of Bombay; 1969.
2. Kangle RP. The Kautilya Arthashastra. Part 2: An English translation with critical and explanatory notes. 2nd ed. Bombay: University of Bombay; 1972.
3. Gairola V. Kautilya's Arthashastra (with Hindi commentary). Varanasi: Chaukhamba Vidyabhavan; 1962.
4. Shamasastri R. Kautilya's Arthashastra. Mysore: Wesleyan Mission Press; 1915.
5. Kangle RP. The Kautilya Arthashastra. Part 3: A study. Bombay: University of Bombay; 1965.
6. Trautmann TR. Kautilya and the Arthashastra: a statistical investigation of the authorship and evolution of the text. Leiden: Brill; 1971.
7. Mabbett IW. The date of the Arthashastra. J Am Orient Soc. 1964;84(2):162-9.
8. Boesche R. The first great political realist: Kautilya and his Arthashastra. Lanham: Lexington Books; 2002.
9. Modelski G. Kautilya: foreign policy and international system in the ancient Hindu world. Am Polit Sci Rev. 1964;58(3):549-60.
10. Olivelle P. King, governance, and law in ancient India: Kautilya's Arthashastra. New York: Oxford University Press; 2013.
11. Rangarajan LN. Kautilya: The Arthashastra. New Delhi: Penguin Books India; 1992.
12. Jayaswal KP. Hindu polity: a constitutional history of India in Hindu times. Bangalore: Bangalore Printing and Publishing Co.; 1943.
13. Altekar AS. State and government in ancient India. Delhi: Motilal Banarsidass; 1958.
14. Sharma RS. Aspects of political ideas and institutions in ancient India. Delhi: Motilal Banarsidass; 1959.
15. Ghoshal UN. A history of Indian political ideas. Bombay: Oxford University Press; 1959.
16. Vidyalkar S. Prāchīn Bhāratiya Shāsan Vyavasthā aur Rājashāstra (in Hindi). Mussoorie: Sarasvati Sadan; 1968.
17. Scharfe H. The state in Indian tradition. Leiden: Brill; 1989.

18. Kane PV. History of Dharmaśāstra: ancient and mediaeval religious and civil law. Vol. 3. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute; 1946.
19. Sil NP. Kautilya's Arthaśāstra: a comparative study. Selinsgrove: Susquehanna University Press; 1985.
20. Zaman RU. Kautilya: the Indian strategic thinker and Indian strategic culture. Comp Strategy. 2006;25(3):231-47.
21. Boesche R. Kautilya's Arthaśāstra on war and diplomacy in ancient India. J Mil Hist. 2003;67(1):9-37.
22. Thapar R. Aśoka and the decline of the Mauryas. London: Oxford University Press; 1961.
23. Sastri TG, editor. The Kāmandakīya Nītiśāra. Trivandrum: Trivandrum Sanskrit Series; 1912.
24. Olivelle P. Manu's code of law: a critical edition and translation of the Mānava-Dharmaśāstra. New York: Oxford University Press; 2005.
25. Sukthankar VS, editor. The Mahābhārata: critical edition. Śāntiparvan. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute; 1933-66.
26. Machiavelli N. The prince. Bull G, translator. Harmondsworth: Penguin Books; 1961.
27. Weber M. Politics as a vocation. In: Gerth HH, Mills CW, editors and translators. From Max Weber: essays in sociology. New York: Oxford University Press; 1946. p. 77-128.
28. Thucydides. History of the Peloponnesian War. Warner R, translator. Harmondsworth: Penguin Books; 1954.
29. Sun Tzu. The art of war. Griffith SB, translator. Oxford: Clarendon Press; 1963.
30. Morgenthau HJ. Politics among nations: the struggle for power and peace. New York: Alfred A. Knopf; 1948.
31. Waltz KN. Theory of international politics. Reading (MA): Addison-Wesley; 1979.
32. Kissinger H. Diplomacy. New York: Simon & Schuster; 1994.